



Date: 21-10-26

The ECI's unfinished lessons

While the ECI need not accept every allegation made by political parties, constitutional authority cannot substitute for verifiable evidence

Anurodh Lalit Jain, [Vice-Chairman, AICC Minority Department.]

India's electoral system has evolved through successive efforts to make elections more inclusive, enforceable and accessible. Today, the mass revision of electoral rolls, suspicious voter deletions, and questions about access to polling records test the Election Commission of India's (ECI) ability to ensure that every eligible voter can participate equally. Its history offers lessons for the challenges ahead.

When India prepared its first electoral roll, nearly 28 lakh women were left off because they were identified through their relationships to men rather than being registered under their own names. Sukumar Sen, India's first Chief Election Commissioner, worked to ensure that women were enrolled in their own right, and by the 1957 elections, about 85% of those affected had been registered under their own names.

This lesson matters now as the ECI undertakes its Special Intensive Revision (SIR) of electoral rolls. In Bihar, around 65 lakh names were missing from the draft roll published in August 2025. The Commission cited reasons such as deaths, migration and duplicate entries. While updating electoral rolls is necessary, voters must be able to check why their names have been left out and challenge errors. The Supreme Court directed the ECI to publish the list of excluded voters along with the reasons for exclusion.

In a similar line, West Bengal shows what happens when correcting errors becomes slow. More than 27 lakh names were deleted during adjudication, prompting around 22 lakh appeals. Moreover, tribunal judges have raised technical concerns such as problems with the appeals portal, including difficulties issuing notices, conducting hearings and restoring names. While both cases show that removing names may be necessary to keep rolls accurate, correcting wrongful exclusions is equally important. A remedy that comes too late results in a lost vote.

The Form 7 question

The same principle applies to Form 7, through which an elector can seek the deletion of a name from the roll. In Aland, Karnataka, 6,018 online applications sought deletions. Of these, the ECI said that they rejected 5,994 applications as they were incorrect, and accepted only 24 after verification. An inquiry followed, and an FIR was registered. Rejecting incorrect applications show that safeguards can work. But a concentrated pattern of applications requires the ECI to establish who submitted them and whether identities or documents were misused. Every deletion request should leave a verifiable record of the applicant, supporting evidence, and the final decision.

Transparency in polling data presents another test. In Maharashtra's 2024 Assembly election, reported turnout rose from 58.22% at 5 p.m. to 66.05% in the final figure. The Commission explained that the earlier number was provisional and that data continued to be updated as polling parties returned and records were scrutinised. While a difference between provisional and final figures does not by itself establish improper voting, a substantial change makes a clear explanation necessary.

In December 2024, following a Punjab and Haryana High Court order to release election-related records in a case concerning the Haryana Assembly election, the government amended Rule 93 of the Conduct of Elections Rules. The change raised concerns about public access to electronic records, including CCTV footage and webcasting material. The timing of the change raised questions about whether the aim was to protect privacy or limit scrutiny.

Institutional independence matters just as much. In *Anoop Baranwal vs. Union of India* (2023), the Supreme Court prescribed an interim selection committee comprising the Prime Minister, the Leader of the Opposition and the Chief Justice of India to select election commissioners. Parliament later replaced the Chief Justice with a Union Cabinet Minister. The government now controls two of the three keys to the room where election commissioners are chosen. This hardly inspires public confidence in the ECI's independence.

While the ECI need not accept every allegation made by political parties, constitutional authority cannot substitute for verifiable evidence. Accurate rolls, traceable deletion requests, timely appeals and independently examinable polling records are safeguards owed to every voter. In an electoral democracy, trust must be earned through evidence, clarity and the willingness to correct mistakes.



दैनिक भास्कर

Date: 21-10-26

हम तेल के लिए हमेशा दूसरे देशों पर ही निर्भर क्यों रहें?

सचिन कलबाग, (वरिष्ठ पत्रकार और सेंट जेवियर्स कॉलेज मुम्बई में प्रोफेसर)

ट्रम्प ने कहा है कि वे 3 नवंबर को होने वाले मध्यावधि चुनावों के बाद नए हथियारों के साथ ईरान पर हमला करेंगे। इनमें कथित "मदर ऑफ ऑल बॉम्ब्स" भी शामिल होगा। यदि ट्रम्प अपनी इस धमकी पर अमल करते हैं तो इससे बेवजह होने वाली जनहानि के अलावा वैश्विक ऊर्जा बाजार पर भी गंभीर असर पड़ेगा। खासकर भारत पर, जो अपनी जीवाश्म ईंधन की जरूरतों का 85% से अधिक आयात करता है।

पेट्रोलियम प्लानिंग एंड एनालिसिस सेल (पीपीएसी) के आंकड़े चिंताजनक तस्वीर दिखाते हैं। दिसंबर 2025 में भारत ने अपने आयातित कच्चे तेल की औसत कीमत करीब 62 डॉलर प्रति बैरल चुकाई थी। अगस्त 2026 में यह बढ़कर 90 डॉलर और सितंबर में 116 डॉलर प्रति बैरल हो गई। यानी महज नौ महीने पहले चुकाई गई कीमत से दोगुनी। ऐसे में पूरी आशंका है कि अमेरिका और इजरायल के ईरान पर प्रस्तावित हमले से तेल कीमतें फिर बढ़ सकती हैं। महंगाई और लागतों में बढ़ोतरी के इस दबाव को झेलने के लिए भारत को बेहद मजबूत कवच चाहिए। साथ में डॉलर के मुकाबले रुपए के और निचले स्तर पर पहुंचने का वास्तविक खतरा तो बना ही हुआ है।

ईरान पर अमेरिका के किसी भीषण हमले का मतलब होगा कि भारत का चालू खाता घाटा (सीएडी)- जो अभी जीडीपी के 1.2 से 1.4% के बीच है- आसानी से बढ़ सकता है। हमारे आयात बिल में 35 से 40 अरब डॉलर की बढ़ोतरी भी सीएडी को जीडीपी के 2.2% से ऊपर पहुंचा सकती है, जिससे आरबीआई को रुपए को स्थिर रखने के लिए अपने विदेशी मुद्रा भंडार से डॉलर बेचने पड़ सकते हैं। फिर, देश में सड़कों पर चल रहे हालिया विरोध प्रदर्शनों के अलावा एक और बड़ी समस्या उपभोक्ता मूल्य सूचकांक में बढ़ोतरी की हो सकती है। हमारी अर्थव्यवस्था का बड़ा हिस्सा- लॉजिस्टिक्स, कृषि और मैन्युफैक्चरिंग- डीजल पर निर्भर है। अंतरराष्ट्रीय बाजार में दाम बढ़ते हैं तो देश में कीमतें नियंत्रित रखने के लिए सरकार और तेल कंपनियों को करों में कटौती करने या कीमतों में बढ़ोतरी का बोझ खुद झेलने जैसे कदम उठाने पड़ सकते हैं। दोनों ही स्थितियों में रेल और सड़क ढांचा निर्माण जैसे अहम पूंजीगत खर्च के लिए आवंटित होने वाला बजट तेल संकट से निपटने में खपाना पड़ेगा।

अब तक भारत ने रूस और ईरान के साथ व्यापार को लेकर अमेरिकी प्रतिबंधों के अप्रत्यक्ष प्रभावों से निपटने के लिए तीन प्रमुख तरीके अपनाए हैं। पहला, स्विफ्ट के तहत पश्चिम की बैंकिंग पाबंदियों को सक्रिय किए बगैर रूस से मल्टी-करंसी व्यवस्था में व्यापार करना। दूसरा, भारतीय खरीदार सरकारी ऋणदाताओं के बजाय गैर-पश्चिमी समुद्री परिवहन सेवाओं और निजी बीमा समूहों पर ज्यादा निर्भर रहते हैं, ताकि अमेरिका के विदेशी परिसंपत्ति नियंत्रण कार्यालय (ओएफएसी) के प्रतिबंधों से सरकारी बैंकों को बचाकर रखा जा सके। तीसरा तरीका कूटनीतिक प्रभाव का इस्तेमाल है। भारत अक्सर अमेरिका और अन्य पश्चिमी देशों को यह समझाता रहा है कि यदि रूस से प्रतिदिन 18 से 20 लाख बैरल कच्चे तेल की आपूर्ति पर रोक लगाई गई और भारतीय रिफायनरियों तक इसकी पहुंच रोकी गई तो वैश्विक आपूर्ति संकट पैदा हो सकता है। इससे ब्रेंट क्रूड की कीमत 120 डॉलर प्रति बैरल से काफी ऊपर जा सकती है।

लेकिन अस्थायी उपायों का असर अब अपनी सीमा पर पहुंच गया है। भारत को अस्थिर ऊर्जा बाजारों से खुद को अलग करने के प्रयास तेज करने होंगे। इसके लिए 20% एथेनॉल मिश्रण अनिवार्य करने में तेजी लाना, औद्योगिक स्तर पर सौर ऊर्जा क्षमता को बढ़ाना और इंडियन स्ट्रेटजिक पेट्रोलियम रिजर्व लिमिटेड (आईएसपीआरएल) के तहत घरेलू तेल भंडारों को बढ़ाना जरूरी है।



दैनिक जागरण

Date: 21-10-26

बड़े संकट की ओर बढ़ता यूरोप

डॉ. आनंद कुमार, (लेखक मनोहर परिकर रक्षा अध्ययन एवं विश्लेषण संस्थान में फेलो हैं)

यूरोप इस समय आर्थिक कठिनाइयों, बढ़ती असमानता और राजनीतिक ध्रुवीकरण के कारण गहरे सामाजिक असंतोष का सामना कर रहा है। फ्रांस में बीते दिनों हुई व्यापक हिंसा में यह स्पष्ट दिखा। स्कूलों में सुविधाओं की कमी और सार्वजनिक सेवाओं की गिरती गुणवत्ता के विरोध में शुरू हुए प्रदर्शन धीरे-धीरे महंगाई, आवास संकट और आम लोगों के जीवन स्तर में गिरावट के विरुद्ध व्यापक आंदोलन में बदल गए। हिंसा, आगजनी और लूटपाट की घटनाओं ने पूरे आंदोलन का स्वरूप बदल दिया। दुकानों, रेस्तरां और सार्वजनिक भवनों को निशाना बनाया गया।

फ्रांस के अलावा इटली, बेल्जियम, पुर्तगाल और अल्बानिया में भी विरोध-प्रदर्शनों और हिंसक घटनाओं की खबरें सामने आई हैं। इससे स्पष्ट है कि यूरोप की समस्या केवल कानून-व्यवस्था तक सीमित नहीं है, बल्कि इसके पीछे गहरे आर्थिक और राजनीतिक कारण मौजूद हैं। राष्ट्रपति इमैनुएल मैक्रों ने दोषियों के विरुद्ध कड़ी कार्रवाई का आश्वासन दिया है। हालांकि सरकार अगर आंदोलन को सिर्फ कानून-व्यवस्था की समस्या मानती है, तो वह उन आर्थिक और सामाजिक कारणों की अनदेखी करेगी, जिन्होंने इतने बड़े जनसमूह को सड़कों पर उतरने के लिए प्रेरित किया। इस असंतोष की जड़ें आम नागरिकों की अपेक्षाओं और उनकी आर्थिक स्थिति के बीच बढ़ती खाई में भी हैं। महंगाई, अपर्याप्त वेतन, महंगे मकान और सार्वजनिक सेवाओं की गिरती गुणवत्ता ने विशेष रूप से युवाओं के बीच भविष्य को लेकर अनिश्चितता बढ़ाई है। जब शिक्षा बेहतर भविष्य की गारंटी देने में असमर्थ दिखाई दे और रोजगार से भी सम्मानजनक जीवन संभव न हो, तो असंतोष केवल किसी एक सरकारी नीति तक सीमित नहीं रहता। धीरे-धीरे यह राजनीतिक व्यवस्था और संस्थाओं के प्रति अविश्वास में बदल सकता है। इसलिए सरकार को हिंसा कर रहे लोगों और शांतिपूर्ण ढंग से मांगें रखने वालों के बीच स्पष्ट अंतर करना होगा।

बढ़ते सार्वजनिक ऋण और सरकारी उधारी की लागत ने फ्रांस पर बजट घाटे को नियंत्रित करने का दबाव बढ़ा दिया है। संसद में 2027 के बजट पर चर्चा शुरू हो चुकी है, जिसमें लगभग 43 अरब यूरो की घाटा-कटौती उपाय प्रस्तावित हैं, लेकिन शिक्षा, कल्याणकारी योजनाओं और अन्य आवश्यक सेवाओं पर खर्च घटाने से जनता का असंतोष और बढ़ सकता है। दूसरी ओर, बिना पर्याप्त वित्तीय संसाधनों के सरकारी खर्च बढ़ाने से वित्तीय स्थिरता और निवेशकों का विश्वास प्रभावित हो सकता है। बाजारों की प्रतिक्रिया भी इस संकट की गंभीरता को दर्शाती है। फ्रांस के सरकारी बांड पर दबाव बढ़ा, यूरो कमजोर हुआ और फ्रांसीसी शेयर बाजार का प्रदर्शन यूरोपीय बाजारों की तुलना में खराब रहा। यदि राजनीतिक अस्थिरता लंबे समय तक बनी रही, तो निवेश प्रभावित हो सकता है।

उपभोक्ताओं का विश्वास कमजोर पड़ेगा। व्यवसायों को अतिरिक्त नुकसान उठाना पड़ सकता है। विशेष रूप से छोटे दुकानदारों के लिए हिंसा से हुए नुकसान की भरपाई कठिन होगी। जिस आर्थिक असुरक्षा ने विरोध प्रदर्शनों को जन्म दिया, वही हिंसा के कारण और गहरी हो सकती है।

आर्थिक संकट के साथ राजनीतिक धुवीकरण भी फ्रांस की स्थिति को गंभीर बना रहा है। राष्ट्रपति मैक्रों का कार्यकाल समाप्ति की ओर है और लगभग छह महीने बाद होने वाले राष्ट्रपति चुनाव को देखते हुए राजनीतिक प्रतिस्पर्धा तेज हो गई है। संसद में तीन प्रमुख राजनीतिक धड़ों के बीच गहरे मतभेदों के कारण सरकार के लिए सहमति बनाना कठिन है। दक्षिणपंथी नेता मरीन ले पेन सरकार की कानून-व्यवस्था संबंधी विफलताओं को मुद्दा बना रही हैं, जबकि वामपंथी नेता जां-लुक मेलांशों सरकार और पुलिस की भूमिका की आलोचना कर रहे हैं। संकट के समाधान के लिए आवश्यक राजनीतिक सहयोग के स्थान पर आरोप-प्रत्यारोप बढ़ रहे हैं।

फ्रांस की घटनाओं का प्रभाव पूरे यूरोप में दिखाई दे रहा है। इटली, बेल्जियम और पुर्तगाल में भी प्रदर्शन तथा झड़पें हुई हैं, जबकि स्पेन में आवास और वेतन के मुद्दों पर विरोध-प्रदर्शन की तैयारी है। अल्बानिया में भी सरकार विरोधी और छात्र आंदोलनों ने हिंसक रूप लिया। इन देशों की राजनीतिक परिस्थितियां अलग-अलग हैं, लेकिन महंगाई, आवास की बढ़ती लागत, कम वेतन और सरकारी नीतियों से असंतोष जैसी समस्याएं समान हैं। अमेरिका और ईरान के बीच संघर्ष से ऊर्जा की कीमतों में वृद्धि ने परिवारों के बजट पर अतिरिक्त दबाव डाला है। कमजोर आर्थिक विकास के कारण लोगों की आय आवश्यक खर्चों के अनुरूप नहीं बढ़ पा रही है।

कई यूरोपीय देशों में चुनाव होने वाले हैं। ऐसे में आर्थिक असंतोष और राजनीतिक प्रतिस्पर्धा का मेल अधिक खतरनाक हो सकता है। यदि पारंपरिक दल जनता को ठोस समाधान देने में विफल रहते हैं, तो अतिवादी ताकतों को समर्थन मिल सकता है। जटिल आर्थिक समस्याओं के सरल समाधान देने का दावा करने वाले दल जनता की निराशा का लाभ उठा सकते हैं। इससे राजनीतिक धुवीकरण बढ़ेगा और गठबंधन तथा सहमति के आधार पर शासन चलाना और कठिन हो सकता है। कुल मिलाकर, फ्रांस का संकट पूरे यूरोप के लिए एक चेतावनी है। लोकतंत्र की स्थिरता केवल पुलिस और प्रशासन की क्षमता पर निर्भर नहीं करती, इसके लिए नागरिकों का यह विश्वास भी आवश्यक है। कानून-व्यवस्था बनाए रखना अनिवार्य है, लेकिन किफायती आवास, गुणवत्तापूर्ण शिक्षा, सम्मानजनक रोजगार और विश्वसनीय सार्वजनिक सेवाएं भी उतनी ही महत्वपूर्ण हैं। यूरोपीय सरकारों को वित्तीय अनुशासन के साथ सामाजिक आवश्यकताओं के बीच संतुलन बनाना होगा। यदि वे जनता की अपेक्षाओं और वास्तविक जीवन की परिस्थितियों के बीच बढ़ती खाई को पाटने में विफल रहती हैं, तो राजनीतिक धुवीकरण और सामाजिक अशांति और गहरी हो सकती है। यूरोप के सामने असली चुनौती केवल सड़कों पर शांति बहाल करना नहीं, बल्कि लोकतांत्रिक संस्थाओं और बेहतर भविष्य के प्रति नागरिकों के विश्वास को फिर से स्थापित करना है।

बिज़नेस स्टैंडर्ड

Date: 21-10-26

जलवायु परिवर्तन से निपटने के कदम नाकाफी

नितिन देसाई



सतत या टिकाऊ विकास का अर्थ है भविष्य की पीढ़ियों की आवश्यकताएं पूरी करने की क्षमता से समझौता किए बिना वर्तमान जरूरतों की पूर्ति करना। हालांकि, जलवायु परिवर्तन के खतरे से निपटने के लिए कहीं अधिक उपाय करने की आवश्यकता है। हमें इस बात का भी खास ध्यान रखना होगा कि निकट भविष्य में मानव समुदाय के लिए जलवायु की स्थिति बिगड़ने की घोर आशंका है। यही कारण है कि तीन दशकों से भी पहले 'जलवायु परिवर्तन पर संयुक्त राष्ट्र ढांचागत समझौते' (यूएनएफसीसी) पर बातचीत हुई और इसे मंजूरी दी गई। इसके प्रस्तावना में कहा गया था कि 'जलवायु परिवर्तन से निपटने के उपाय सामाजिक और आर्थिक विकास के साथ इस तरह से समन्वित होने चाहिए ताकि विकास पर कोई प्रतिकूल प्रभाव न पड़े।'

मगर ऐसा नहीं हो पाया है। विकास के साथ जलवायु परिवर्तन रोकने के उपायों के एकीकरण से नवीकरणीय ऊर्जा के विकास में मदद जरूर मिली है मगर यहां भी इस तेजी का मुख्य कारण पूंजी लागत में कमी के चलते बेहतर होती व्यावसायिक संभावनाएं हो सकती हैं। हकीकत यह है कि जलवायु परिवर्तन के विषय पर नीतियां बनाने का काम विकास से जुड़ी नीतियां बनाने के काम से पूरी तरह अलग है।

व्यावहारिक रूप से विकास की जरूरतें और लाभ की संभावनाएं ही वर्तमान और भविष्य के कार्य तय करती हैं। यही वजह है कि जलवायु परिवर्तन की रफ्तार कम करने के मामले में यूएनएफसीसी के सदस्य देशों का प्रदर्शन बेहद खराब रहा है। 'क्लाइमेट एक्शन ट्रेकर' नामक एक स्वतंत्र संस्था ने वर्ष 2015 के पेरिस समझौते के तहत वैश्विक तापमान वृद्धि को 1.5 डिग्री सेल्सियस तक सीमित करने के लक्ष्य की दिशा में प्रमुख देशों के प्रदर्शन का मूल्यांकन किया है। इसके आकलन के मुताबिक लगभग सभी प्रमुख देशों द्वारा उठाए गए कदम अपर्याप्त हैं।

अमेरिका, रूस, खाड़ी देश और दक्षिण-पूर्व एशिया के अधिकांश देशों के कदम 'बेहद अपर्याप्त' माने गए हैं। भारत, चीन, मिस्र, ब्राजील, अर्जेंटीना, कनाडा और मेक्सिको को 'काफी अपर्याप्त' कदम उठाने वाले देशों की श्रेणी में रखे गए हैं जबकि यूरोप का अधिकांश हिस्सा, ऑस्ट्रेलिया और दक्षिण अफ्रीका 'अपर्याप्त' श्रेणी में आते हैं। अगर सभी देश अपनी-अपनी श्रेणियों के अनुरूप जलवायु संबंधी कदम उठाते हैं तो तापमान में होने वाली वृद्धि कुछ इस

तरह होगी: 'बेहद अपर्याप्त' श्रेणी वाले देशों के मामले में 4 डिग्री सेल्सियस, 'काफी अपर्याप्त' श्रेणी के लिए 3-4 डिग्री सेल्सियस और 'अपर्याप्त' श्रेणी के लिए 2-3 डिग्री सेल्सियस। सवाल यह नहीं है कि देश वर्ष 2030 के लिए किए गए अपने वादे पूरे कर पाएंगे या नहीं। भारत अपने लक्ष्यों को पूरा करेगा और हो सकता है कि उनसे आगे भी निकल जाए। असली समस्या यह है कि वर्ष 2030 के लिए तय किए गए ये लक्ष्य वैश्विक तापमान वृद्धि 1.5 डिग्री सेल्सियस तक सीमित रखने के लिए नाकाफी हैं। पेरिस समझौते और यूएनएफसीसीसी से अमेरिका के बाहर होने के फैसले ने स्थिति और खराब कर दी है। यह निर्णय जनवरी 2027 से प्रभावी होगा।

सच कहें तो हमें यह स्वीकार करना होगा कि देशों द्वारा किए गए सीमित वादों के कारण दुनिया पेरिस समझौते में तय किए गए लक्ष्यों के अनुसार भविष्य में तापमान वृद्धि सीमित करने में सफल नहीं हो पाएगी। 2 सितंबर को संयुक्त राष्ट्र पर्यावरण कार्यक्रम (यूएनईपी) ने एक रिपोर्ट जारी की जिसमें पहली बार यह माना गया कि 1.5 डिग्री सेल्सियस की सीमा दशकों में नहीं बल्कि कुछ ही वर्षों में पार हो जाएगी। अब जलवायु नीति में केवल जलवायु परिवर्तन की रफ्तार कम करने पर ही नहीं बल्कि उच्च तापमान का सामना करने की क्षमता विकसित करने और उसके अनुकूल ढलने पर भी उतना ही ध्यान देने की जरूरत है। यह यूएनएफसीसीसी की कार्य योजना का हिस्सा है।

भारत को अपनी जलवायु नीति में अब इसी बात पर अधिक ध्यान देना चाहिए। क्या हम अनुकूलन और क्षमता निर्माण के मोर्चे पर पर्याप्त काम कर रहे हैं? छह क्षेत्रों यानी भोजन, जल, स्वास्थ्य, पारिस्थितिकी तंत्र सेवाएं, मानव आवास और बुनियादी ढांचा में जलवायु परिवर्तन के नकारात्मक प्रभावों के प्रति किसी देश की संवेदनशीलता, जोखिम और अनुकूलन क्षमता को मापने वाला एक सूचकांक भारत को एशिया-प्रशांत क्षेत्र में 48 देशों में 28वें स्थान पर रखता है। श्रीलंका के अलावा भारत के अन्य पड़ोसी देश इस स्तर से नीचे हैं और जलवायु परिवर्तन के जोखिमों के प्रति कहीं अधिक संवेदनशील हैं।

भारत में हमें जलवायु परिवर्तन प्रबंधन रणनीति के महत्व को बढ़ाने की आवश्यकता है ताकि इसे विकास नीति के मुख्य ढांचे से सीधे तौर पर जोड़ा जा सके। विकास के दीर्घकालिक रुझानों को देखते हुए जलवायु परिवर्तन प्रबंधन को पारंपरिक विकास कार्यों के साथ सही ढंग से एकीकृत करना जरूरी है। इसमें कृषि विकास के लक्ष्य, बढ़ते तापमान (जो गर्मी में 50 डिग्री सेल्सियस तक पहुंच सकता है) के अनुसार कृषि कार्य को ढालना, स्वास्थ्य पर इसके प्रभाव और तापमान कम करने के लिए बढ़ने वाली ऊर्जा की मांग जैसे पहलू शामिल हैं। हमें यह समझना होगा कि जलवायु से जुड़े साझा प्रभावों (जैसे साझा नदियों पर पड़ने वाले असर) को लेकर पड़ोसी देशों के बीच सहयोग जरूरी और उपयोगी हो सकता है। सबसे महत्वपूर्ण आवश्यकता यह है कि एक 'राष्ट्रीय जलवायु प्रबंधन निकाय' का गठन किया जाए जिसमें केंद्र, राज्य और बड़े शहरों के नगर निकाय शामिल हों। यह निकाय जलवायु के अनुकूल ढलने और इसके प्रभाव कम करने के प्रयासों की समीक्षा और मूल्यांकन करेगा तथा भविष्य की जलवायु प्रबंधन योजनाओं पर सहमति बनाएगा। इसका एक मुख्य कारण यह है कि जलवायु के अनुकूल

ढलने के उपाय, उन्हें लागू करने और लचीलापन विकसित करने से जुड़े कार्य स्थानीय स्तर पर होने चाहिए। इसमें ऐसे क्षेत्र शामिल हैं जो पूरी तरह से राज्य के नियंत्रण और प्रबंधन के दायरे में आते हैं।

जलवायु के अनुकूल ढलने और लचीलापन विकसित करने का काम राज्य सरकारों और स्थानीय निकायों द्वारा किया जा सकता है मगर जलवायु परिवर्तन के प्रभाव कम करने का निरंतर प्रयास एक केंद्रीय जिम्मेदारी बनी रहनी चाहिए। अब तक मुख्य ध्यान नवीकरणीय ऊर्जा को बढ़ावा देने पर रहा है। मगर अब ऐसे कार्यक्रम भी हैं जिनमें अनुपालन मानक और कार्बन मूल्य निर्धारण शामिल हैं। इनमें 'कार्बन क्रेडिट ट्रेडिंग स्कीम' शामिल है जो अधिक ऊर्जा खपत वाले उद्योगों पर उत्सर्जन-तीव्रता के लक्ष्य तय करती है और उन्हें अतिरिक्त या कम उत्सर्जन को समायोजित करने के लिए ट्रेडिंग की अनुमति देती है। इसके अलावा, 'पर्यावरण ऑडिट नियम, 2025' भी हैं जो जलवायु परिवर्तन पर प्रतिकूल प्रभाव डालने की संभावना वाले उद्योगों के लिए पर्यावरण ऑडिट का प्रावधान करते हैं। अगर ये सभी गतिविधियां ऊपर बताए गए 'राष्ट्रीय जलवायु प्रबंधन निकाय' की निगरानी में रखी जाएं तो नियमों के पालन के लिए दबाव और मजबूत हो सकता है। यह भी समझना होगा कि इस्पात और सीमेंट जैसे भारी मात्रा में कार्बन उत्सर्जन करने वाले उद्योगों के लिए कार्बन कैप्चर, उपयोगिता एवं भंडारण (सीसीयूएस) एक जरूरत हो सकती है। फिलहाल, वैश्विक सीसीयूएस गतिविधियों में भारत की हिस्सेदारी न के बराबर है। ऐसे में केंद्र सरकार को वर्ष 2026-27 के बजट में किए गए 20,000 करोड़ रुपये के पांच-वर्षीय प्रावधान पर पूरी गंभीरता से काम करना चाहिए।

केंद्र सरकार राज्यों की मदद करने में एक बड़ी भूमिका निभा सकती है। वह न केवल राज्यों के व्यापक जलवायु कार्यों के लिए पर्याप्त धन उपलब्ध करा सकती है बल्कि उपग्रहों से प्राप्त तस्वीरों और आर्टिफिशल इंटेलिजेंस (एआई) का उपयोग कर जलवायु प्रभावों और उनसे जुड़े गतिविधियों की बेहतर जानकारी भी दे सकती है।

मैंने राष्ट्रीय स्तर के कार्यों पर ध्यान केंद्रित किया है। मगर हमें यह भी समझना होगा कि जलवायु परिवर्तन का प्रभाव कम करने और इसके प्रभावों से निपटने के लिए जरूरी तकनीक और धन जुटाने के वास्ते हमें अभी भी अधिक प्रभावी वैश्विक सहयोग की आवश्यकता है। फिलहाल, प्रभावी वैश्विक सहयोग की संभावनाएं काफी कम नजर आती हैं। मगर जैसे-जैसे जलवायु परिवर्तन के प्रभाव और अधिक स्पष्ट होते जाएंगे वैसे ही वैश्विक सहयोग भी अधिक प्रभावी हो सकता है। उम्मीद है कि अगले महीने होने वाली यूएनएफसीसीसी की बैठक में हमें इसके कुछ शुरुआती संकेत देखने को मिलेंगे।

संपादकीय

देश ने पिछले कुछ दशकों में आर्थिक विकास, विज्ञान, तकनीक और स्वास्थ्य के क्षेत्र में उल्लेखनीय प्रगति की है। मगर सवाल है कि इस विकास का आधार क्या आम आदमी के जीवन स्तर में सुधार से जुड़ा है? जब भारत की गिनती दुनिया की सबसे तेज गति से बढ़ती अर्थव्यवस्थाओं में की जाती हो, ऐसे समय में भी देश में अगर बच्चों के कुपोषण की समस्या एक गंभीर चुनौती बनकर सामने खड़ी हो, तो यथार्थ के आँदने में विकास को किस रूप में देखा जाएगा। कुपोषण न केवल बच्चों के शारीरिक विकास को प्रभावित करता है, बल्कि उनकी मानसिक क्षमता और भविष्य की संभावनाओं पर भी प्रतिकूल असर डालता है। कई बार तो यह स्थिति मौत का कारण भी बन जाती है। केरलम के अलप्पुझा जिले में हाल में ऐसी ही एक घटना सामने आई, जिसमें दो साल के एक मासूम बच्चे ने भुखमरी और कुपोषण के कारण दम तोड़ दिया। यह घटना सरकार के खाद्य सुरक्षा के दावों की जमीनी हकीकत को भी बयान करती है।

केंद्र और राज्य सरकारों की ओर से गरीब परिवारों को निशुल्क खाद्यान्न उपलब्ध कराने तथा बच्चों एवं महिलाओं में कुपोषण की समस्या को दूर करने के लिए कई योजनाएं शुरू की गई हैं, मगर यह सुनिश्चित करने का प्रयास शायद ही होता है कि क्या इनका लाभ पात्र व्यक्ति तक पहुंच पा रहा है या नहीं। केरलम की घटना पर राज्य बाल अधिकार संरक्षण आयोग ने संज्ञान लिया है, लेकिन इस मामले में कोई प्रभावी कार्रवाई हो पाएगी, इस संबंध में अभी कुछ कहना मुश्किल है। इस घटना के बाद स्थानीय बाल कल्याण समिति ने पीड़ित परिवार के अन्य बच्चों को अपनी देखरेख में ले लिया है, मगर अहम सवाल यह है कि सरकार या समिति की ओर से इस तरह के कदम पहले क्यों नहीं उठाए गए। सरकारी आंकड़ों के मुताबिक, केरलम शिक्षा और जागरूकता के मामले में काफी आगे है, फिर क्या वजह रही कि आसपड़ोस के लोगों ने भी इस परिवार की कोई सुध नहीं ली! बच्चों का स्वस्थ विकास परिवार ही नहीं, बल्कि पूरे समाज और राष्ट्र का दायित्व है। आज के स्वस्थ बच्चों से ही कल के सशक्त भारत का निर्माण संभव है।

Date: 21-10-26

भीड़ प्रबंधन में सुधार की दरकार

राहुल लाल



पश्चिम बंगाल में कोलकाता की दुर्गा पूजा केवल एक धार्मिक अनुष्ठान या मौसमी पर्व नहीं है, बल्कि यह यूनेस्को की ओर से मानवता की अमूर्त सांस्कृतिक धरोहर के रूप में स्वीकृत एक विशाल महोत्सव है। शरद ऋतु की षष्ठी से लेकर विजयादशमी तक बड़ी संख्या में लोग जब एक साथ सड़कों पर उतरते हैं, तो इसके चर्चे पूरी दुनिया में होते हैं। देश के विभिन्न हिस्सों में कुंभ, हाथरस, नैना देवी अथवा सबरीमाला जैसे धार्मिक आयोजनों में होने वाली भगदड़ और प्रशासनिक अव्यवस्थाएं जब भी राष्ट्रीय विमर्श

का हिस्सा बनती थीं, तब पश्चिम बंगाल और विशेष रूप से कोलकाता पुलिस की मिसाल गर्व से दी जाती थी। कोलकाता का 'भीड़ प्रबंधन मॉडल' एक ऐसा मानक माना जाता था, जहां लाखों की संख्या में लोग संकरी गलियों से होकर गुजरते थे, भव्य पंडालों में देवी की प्रतिमाओं के दर्शन करते थे और बिना किसी अप्रिय घटना के अपने घरों को लौट जाते थे। मगर 17 अक्टूबर की शाम उत्तरी कोलकाता के चोरबागान सार्वजनिक पूजा पंडाल में जो घटा, उसने इस ऐतिहासिक गौरव, प्रशासनिक साख और उत्सव की मर्यादा पर एक गहरा आघात किया है। महासप्तमी की शाम भारी बारिश और उसके बाद हुई भगदड़ में कई श्रद्धालुओं की जान चली गई।

इस घटना की जांच ने प्रशासनिक दावों के उलट भयावह सच्चाई को उजागर किया है। वहां लगे सीसीटीवी की तस्वीरों से पता चलता है कि बारिश शुरू होते ही जब बाहर खड़े हजारों लोग छत की तलाश में भागे, तो संकरे निकास मार्ग पर बनी कमजोर अस्थायी सीढ़ियां भारी दबाव में ढह गईं। सीढ़ियों के टूटते ही आगे चल रहे लोग गिर पड़े और मुख्य निकास पूरी तरह अवरुद्ध हो गया। ठीक इसी नाजुक मोड़ पर लगातार बजती सीटियों और लाउडस्पीकर पर हुई अनियंत्रित घोषणाओं से लोगों में दहशत फैल गई और इसके तुरंत बाद बिजली भी गुल हो गई। घने अंधेरे में लोग एक-दूसरे को कुचलते हुए इधर-उधर भागते रहे। ऐसे में इस त्रासदी को प्राकृतिक नहीं, बल्कि समय पर भीड़ को नियंत्रित न कर पाने की प्रशासनिक विफलता का परिणाम माना जा रहा है। नियमों के अनुसार, किसी भी सार्वजनिक पंडाल में बिजली आपूर्ति बाधित होने पर तत्काल वैकल्पिक व्यवस्था की तैयारी पहले से होना अनिवार्य है, मगर जांच में सामने आया है कि चोरबागान हादसे के दौरान बिजली की तत्काल वैकल्पिक व्यवस्था नहीं हो पाई।

इस पूरी त्रासदी का निराशाजनक पहलू यह है कि कोलकाता पुलिस और प्रशासन के पास इस तरह की समस्या से निपटने का पहले से आजमाया हुआ मॉडल मौजूद था, फिर भी भगदड़ को नहीं रोका जा सका। वर्ष 2015 का उदाहरण अभी भी इस शहर की स्मृति में ताजा है। तब दक्षिण कोलकाता के देशप्रिय पार्क में 'विश्व की सबसे ऊंची दुर्गा प्रतिमा' स्थापित की गई थी। तृतीया और चतुर्थी के दिन ही लाखों लोगों की भीड़ वहां उमड़ पड़ी। जब पुलिस ने देखा कि भीड़ की सघनता सुरक्षा मानकों को पार कर गई है और किसी भी समय बड़ा हादसा हो सकता है, तो तत्कालीन पुलिस कमिश्नर और उनकी टीम ने एक साहसिक निर्णय लिया। प्रशासन ने किसी राजनीतिक दबाव, आयोजकों के रसूख या जनता की नाराजगी की परवाह किए बिना उस पंडाल को पूरे उत्सव के लिए तत्काल सील कर दिया था। उस सख्त फैसले ने एक संभावित महा-त्रासदी को टाल दिया था। इसके बाद

के वर्षों में भी जब कभी श्रीभूमि या कल्याणी जैसे पंडालों में भीड़ अनियंत्रित हुई, तो पुलिस ने तुरंत लेजर शो बंद करवाए, प्रवेश द्वारों पर अवरोधक लगाए और भीड़ के प्रवाह को कई किलोमीटर पहले ही नियंत्रित कर दिया।

दुर्गा पूजा पर कोलकाता पुलिस का भीड़ प्रबंधन मॉडल किसी कागजी नियमों से अधिक उन अनुभवी अधिकारियों के व्यावहारिक ज्ञान पर निर्भर करता था, जो उत्तर और दक्षिण कोलकाता के एक-एक नुक्कड़, गली और मोड़ से वाकिफ थे। हालिया प्रशासनिक फेरबदल और राजनीतिक पसंद-नापसंद के आधार पर हुई तैनातियों के कारण कई ऐसे अधिकारी दुर्गा पूजा की व्यवस्था के दायरे से किनारे हो गए। नए कमान तंत्र में वह प्रशासनिक साहस और स्वायत्तता नहीं दिखी, जो जमीन पर अचानक उभरी स्थिति को देखकर कड़े फैसले ले सके। निर्णय लेने में हुई हिचकिचाहट ने कई परिवारों को उजाड़ दिया।

यदि कोलकाता को अपनी सांस्कृतिक अस्मिता, वैश्विक प्रतिष्ठा और यूनेस्को की विरासत को अक्षुण्ण रखना है, तो इस त्रासदी को केवल एक औपचारिक जांच आयोग की फाइलों में दबाया नहीं जा सकता। आने वाले वर्षों के लिए एक कड़ा, वैज्ञानिक और कानूनी रूप से बाध्यकारी 'दुर्गा पूजा सुरक्षा घोषणापत्र' लागू करना जरूरी है। प्रत्येक पूजा पंडाल के आंतरिक क्षेत्रफल, पहुंच मार्ग और निकास चौड़ाई के आधार पर राष्ट्रीय भवन संहिता और एनडीएमए मानकों के तहत उसकी अधिकतम सुरक्षित क्षमता निर्धारित की जानी चाहिए। यदि किसी पंडाल की सुरक्षित क्षमता 800 व्यक्तियों की है, तो 801वें व्यक्ति का प्रवेश रोकने के लिए कड़ी व्यवस्था होनी चाहिए। किसी भी पंडाल का निकास द्वार उसके प्रवेश द्वार से कम से कम डेढ़ गुना अधिक चौड़ा होना चाहिए। संकरी गलियों में खुलने वाले निकास द्वारों वाले स्थलों पर पंडाल लगाने की अनुमति प्रतिबंधित करनी होगी। प्रत्येक बड़े पंडाल में मुख्य निकास के अलावा कम से कम दो बाधा-रहित आपातकालीन द्वार होने चाहिए, जो सीधे चौड़ी सड़कों पर खुलते हों।

कोलकाता पुलिस के पास मौजूद हजारों सीसीटीवी कैमरों और ड्रोन को केवल निगरानी कक्ष की स्क्रीन तक सीमित रखने के बजाय इन्हें एआई हीट-मैपिंग सॉफ्टवेयर से जोड़ा जाना चाहिए। जैसे ही किसी सड़क या जंक्शन पर भीड़ का घनत्व चार व्यक्ति प्रति वर्ग मीटर के स्तर को छुए, तो नियंत्रण कक्ष में चेतावनी अलार्म बजना चाहिए। इससे समय रहते भीड़ को नियंत्रित करने में आसानी होगी। इसके अलावा, उत्सव के प्रमुख दिनों के व्यस्ततम घंटों में किसी भी पूजा पंडाल में वीआईपी आवाजाही, विशेष प्रवेश या सुरक्षा काफिले की अनुमति नहीं होनी चाहिए। कानून और सुरक्षा के समक्ष प्रत्येक नागरिक का जीवन समान है। जब पुलिस बल वीआईपी की अगवानी से मुक्त होगा, तभी उसका पूरा ध्यान आम जनता के प्रवाह और सुरक्षा पर केंद्रित रह सकेगा। समय आ गया है कि एक ऐसी जवाबदेह व्यवस्था की नींव रखी जाए, जहां आम नागरिकों के जीवन की गरिमा और सुरक्षा बरकरार रहे।

लद्दाख की ऊंचाइयों तक पहुंच गया पर्यावरण संकट

पंकज चतुर्वेदी, (वरिष्ठ पत्रकार)

हिमालय की गोद में बसे लेह-लद्दाख के विशाल शीत मरुस्थल या हिम-मरु की निर्मल वादियों और पारदर्शी नीले आसमान को दुनिया भर में प्रकृति का एक अद्भुत वरदान माना जाता रहा है। समुद्र तल से लगभग साढ़े ग्यारह हजार फीट की ऊंचाई पर स्थित इस दुर्गम क्षेत्र को कभी देश के सबसे स्वच्छ और प्रदूषणमुक्त स्थलों में गिना जाता था। किंतु पिछले कुछ वर्षों में, विशेष रूप से पर्यटन के अभूतपूर्व विस्तार और अनियंत्रित मानवीय गतिविधियों के कारण, लेह का पर्यावरण एक बड़े संकट की चपेट में आ गया है। यहां वायु गुणवत्ता बिगड़ने की सबसे बड़ी वजह सतही ओजोन का खतरनाक स्तर पर होना पाया गया है।

ओजोन सीधे उत्सर्जित होने वाला प्रदूषक नहीं है, बल्कि यह एक द्वितीयक प्रदूषक है। लेह में वाहनों, डीजल जेनरेटरों, निर्माण-कार्यों और अपशिष्ट या कचरा जलाने से निकलने वाली नाइट्रोजन ऑक्साइड, कार्बन मोनो-ऑक्साइड और वाष्पशील कार्बनिक यौगिक तेज धूप व गर्मी के समय आपस में प्रकाश-रासायनिक प्रतिक्रिया करके जमीन के ठीक पास जहरीली ओजोन का निर्माण करते हैं। लेह की लगभग 3,500 मीटर की ऊंचाई पर पराबैंगनी विकिरण बेहद तीव्र होता है, जो इन रासायनिक प्रतिक्रियाओं को कई गुना तेज कर देता है। इसके अलावा, ऊंचाई पर ओजोन को नष्ट करने वाली अन्य गैसों की सांद्रता कम होने से यह खतरनाक गैस लंबे समय तक वायुमंडल में बनी रहती है। वैज्ञानिक मॉडलिंग के अनुसार, पूरे हिमालय में ओजोन का 15 से 18 प्रतिशत हिस्सा दक्षिण एशिया से आता है, जबकि 32 से 37 प्रतिशत तक का योगदान अन्य क्षेत्रों से होता है।

लेह में इस ओजोन और वायु प्रदूषण के बढ़ने के पीछे मानवीय दबाव और बुनियादी अवसंरचना में भारी वृद्धि का होना भी है। आंकड़ों पर नजर डालें, तो वर्ष 2026 के पहले नौ महीनों, यानी जनवरी से सितंबर के दौरान ही 4,60,667 पर्यटक लेह पहुंचे, जो वर्ष 2025 के कुल 3,35,872 पर्यटकों से लगभग 37 प्रतिशत अधिक थे। केवल सितंबर 2026 में ही 55,582 पर्यटक पहुंचे, जो पिछले वर्ष के इसी महीने की तुलना में 60 प्रतिशत से अधिक हैं। लद्दाख टैक्सी ऑपरेटर यूनियन के तहत पंजीकृत टूरिस्ट टैक्सियों की संख्या छह हजार के पार पहुंच चुकी है, जो पिछले दशक की तुलना में तीन गुना से अधिक है। इसके अतिरिक्त, सीजन के दौरान चार से पांच हजार रेंटल मोटरसाइकिल भी सड़कों पर उतरती हैं। दूरदराज के होटलों में भारी-भरकम डीजल जेनरेटरों का धुआं भी लगातार वातावरण को दूषित कर रहा है।

अत्यधिक ऊंचाई होने के कारण लेह में वायुमंडल पहले से ही बहुत पतला है और वहां हवा में ऑक्सीजन का दबाव सामान्य मैदानों की तुलना में काफी कम होता है। जब इस ऑक्सीजन-विहीन हवा में ओजोन और ब्लैक कार्बन जैसे घातक तत्व मिल जाते हैं, तो यह मानव स्वास्थ्य के लिए दोहरा प्रहार बन जाता है। ओजोन एक तीखी और अत्यधिक प्रतिक्रियाशील गैस है, जो सांस लेते ही सीधे फेफड़ों के नाजुक ऊतकों पर हमला करती है। यह फेफड़ों में सूजन, सीने में जकड़न, लगातार खांसी, आंखों और गले में तीव्र जलन उत्पन्न करती है। जिन पर्यटकों या स्थानीय निवासियों को पहले से अस्थमा, ब्रोंकाइटिस या सांस की बीमारियां हैं, उनके लिए यह स्थिति जानलेवा बन सकती है। अधिक ऊंचाई पर शरीर को सामान्य गतिविधियों के लिए भी अधिक ऑक्सीजन चाहिए, परंतु दूषित हवा के कारण फेफड़ों की ऑक्सीजन सोखने की क्षमता घट जाती है, जिससे चक्कर आना, भारी थकान, तीव्र सिरदर्द और माउंटेन सिकनेस के गंभीर लक्षण तेजी से उभरने लगते हैं।

स्पष्ट है कि लेह का नाजुक पारिस्थितिकी तंत्र अपनी वहन क्षमता की अति पर है। यदि समय रहते लेह में डीजल वाहनों के अनियंत्रित प्रवेश, जेनरेटरों के स्थान पर सौर ऊर्जा के उपयोग और सतत पर्यटन नीतियों को कड़ाई से लागू नहीं किया गया, तो भारत की यह अनुपम धरोहर प्रदूषण की भेंट चढ़ जाएगी। लेह को बचाने के लिए केवल स्थानीय स्तर पर नहीं, बल्कि राष्ट्रीय और क्षेत्रीय स्तर पर भी उत्सर्जन नियंत्रण के ठोस उपाय अपनाने होंगे, ताकि इस महान शीत मरुस्थल के निर्मल पर्यावरण और वहां के जनजीवन की रक्षा की जा सके।
